

न्याय एवं भारतीय न्याय व्यवस्था का दार्शनिक विश्लेषण

डॉ० अनन्त कुमार यादव

अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इन्स्टीट्यूट ऑफ ऑरियण्टल फिलोसोफी, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

न्याय का अंग्रेजी में समान्यिक शब्द जस्टिस (Justice) है जो लैटिन भाषा के शब्द जस (Jus) से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ बाँधना (Tie) है। बाँधने या जोड़ने का यह अर्थ है कि मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था में न्याय मनुष्य – मनुष्य के बीच जोड़ने का कार्य करता है। तात्पर्य यह है कि 'न्याय' वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः प्रत्येक समाज में एक व्यवस्था होती है और इसी व्यवस्था व सम्बन्धों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्तव्य और अधिकार होते हैं। इस प्रकार कर्तव्यों और अधिकारों की व्यवस्था का नाम ही न्याय है। प्रिन्सीपल ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थियरी में बार्कर ने जस्ट और जस्टिस को जोड़ने या बाँधने का एक दूसरा अर्थ लिया है। इसके अनुसार न्याय मूल्यों को जोड़ता है वस्तुतः मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था में हम अनेक प्रकार के आवश्यक मूल्य जैसे स्वतन्त्रता, समानता, भातृत्व, सहकारिता आदि की पहचान करते हैं तथा न्याय इन्हीं विभिन्न मूल्यों को जोड़ने का कार्य करता है। इस प्रकार न्याय हमारे लिये कानून के औचित्य को सिद्ध करता है। जबकि मेरियम का कहना है कि न्याय वह व्यवस्था है जिसके आधार पर प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार दिये जाते हैं जिनको समाज उचित ठहराता है।

न्याय के आयाम या पक्ष

डी.डी. रैफिल ने अपनी पुस्तक प्रोब्लेम ऑफ पोलिटिकल फिलोसोफी में न्याय के चार आयाम या पक्ष का उल्लेख किया है:—

- सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था के रूप में
- व्यक्ति के अधिकारों के रूप में
- परम्परावादी या सुधारवादी सिद्धान्त के रूप में
- प्रक्रिया के रूप में

स्पष्ट है कि कानून में न्यायपद का प्रयोग उन सम्पूर्ण सिद्धान्तों के लिये होता है जिनका अनुपालन समाज हित में व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार कानून की व्यवस्था ही बहुधा वैधानिक दृष्टि से न्याय की व्यवस्था कही जाती है। ध्यातव्य है कि सामाजिक नैतिकता का आधार न्याय है परन्तु न्याय को सम्पूर्ण सामाजिक नैतिकता नहीं कहा जा सकता है। न्याय की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता का क्षेत्र व्यापक है। रैफिल के अनुसार न्याय की अवधारणा का सम्बन्ध समाज की सामान्य व्यवस्था से है और इस सामाजिक व्यवस्था को भंग करना न्याय का उल्लंघन करना है। ऐसी ही स्थिति के लिए दण्ड का विधान किया गया है। इस प्रकार आपराधिक कानून विशेष रूप से सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए ही लागू किये जाते हैं। इसी प्रकार जब कभी व्यक्ति तथा समाज के हितों में विरोध होता है तो व्यक्ति के अधिकारों को स्पष्ट करने के लिये न्याय का प्रयोग होता है। उल्लेखनीय है कि न्याय का तीसरा आयाम या पक्ष परम्परावादी या सुधारवादी सिद्धान्त के रूप में देखा जाता है। न्याय की परम्परावादी धारणा के अनुसार न्याय का कार्य स्थापित व्यवस्था की रक्षा करना है। जबकि सुधारवादी रूप में न्याय की धारणा से

पता चलता है कि न्याय समय समय पर सामाजिक व्यवस्था का संशोधन व पुर्ननिरीक्षण भी करता है।

न्याय के आधार (Ground of Justice)

वस्तुतः किसी भी देश काल परिस्थिति या समाज में होने वाले न्याय का एक ठोस आधार होता है और उस आधार पर ही न्याय परिभाषित व सृजित होता है समग्र रूप से हम न्याय के पाँच आधारों की चर्चा कर सकते हैं जो निम्नलिखित हैं:—

- न्याय का पहला आधार वस्तुगत सत्य होता है। अर्थात् न्याय के लिये तथ्यों का परीक्षण और विवेचन करना आवश्यक है। साथ ही इसके लिये दृष्टिकोण का वैज्ञानिक होना भी आवश्यक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्याय के लिये सत्य आवश्यक है और सत्य के बिना कोई भी निर्णय न्यायपूर्ण नहीं होगा।
- न्याय का दूसरा आधार कसौटी की एकरूपता है। अर्थात् भिन्न भिन्न विवादों में न्याय के अलग – अलग मापदण्ड या कसौटी रखना न्याय नहीं कहा जा सकता है। इसका यह भी अर्थ है कि मनमानी कानून, निर्णय और कार्यवाही न्यायसंगत नहीं हो सकती। इस प्रकार वही कार्य न्यायपूर्ण होगा जो मूल्यों की समान्य योजना पर निर्भर हो। स्पष्ट है कि न्याय में स्वेच्छाचारिता और मनमानीपन सम्भव नहीं है।
- न्याय का तीसरा आधार समानता का व्यवहार है। अर्थात् एक समान मामले में एक समान निपटारा किया जाना चाहिये और इसी कारण इसे कानून के समक्ष समानता का सिद्धान्त भी कहते हैं। इस प्रकार न्याय में कानून की दृष्टि से सभी समान हैं। अर्थात् विषय समान होने पर न्याय समान होना चाहिये।
- न्याय का चौथा आधार स्वतन्त्रता है। अर्थात् एक सीमा से अधिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि न्याय उसी व्यवस्था में होती है जब स्वतन्त्रता को उस हद तक सीमित किया जाय जिससे असमानता उत्पन्न न हो। वहीं इस प्रकार अपने पद की रक्षा के लिये स्वतन्त्रता सीमित करना न्याय नहीं है।
- न्याय का पाँचवा आधार योग्यता व क्षमता है। अर्थात् ऐसे आदेश के लिये जिसका पालन करना सम्भव नहीं है और फिर भी दण्ड दिया जाता है तो ऐसे दण्ड अन्यायपूर्ण कहा जायेगा। अतः योग्यता और क्षमता के अनुसार किसी कार्य की अपेक्षा करना ही न्याय है और इसके विपरीत दिया गया निर्णय अन्याय कहा जायेगा।

ध्यातव्य है कि न्याय की उपर्युक्त अवधारणा, न्याय के आयाम और न्याय के आधार को किसी भी न्यायिक व्यवस्था या सिद्धान्त के सृजन में सम्यक रूप से संज्ञान लिया जाना चाहिये। चिन्तन जगत में समय – समय पर न्याय के बहुत सारे सिद्धान्त सृजित व प्रचलित हुये जिसमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं:— जैसे न्याय का आदर्शवादी सिद्धान्त, उपयोगितावादी सिद्धान्त, साम्यवादी सिद्धान्त, दार्शनिक उदारवादी सिद्धान्त, उत्कट अनुभवादी सिद्धान्त, प्राचीन वस्तुवादी सिद्धान्त, तार्किक प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त तथा मनुवादी सिद्धान्त आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः ये सभी सिद्धान्त अपनी देश काल

एवं परिस्थितियों की उपज रहे हैं।

भारतीय न्याय व्यवस्था

जल्दी न्याय पाना, देर से न्याय पाना और न्याय न पाना – न्याय प्रक्रिया से जुड़े तीन निष्कर्षात्मक बिन्दु हैं। किन्तु गहरायी से विचार करें तो दो ही बिन्दु वस्तुस्थिति में ठहरते हैं, क्योंकि देर से न्याय पाना, न्याय न पाने की ही भूल भावना का प्रतिनिधित्व करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि देर से मिला न्याय, स्वयं में न्याय न पाना ही है। इसप्रकार इस पूरे प्रक्रम में केवल दो ही संकल्पना रह पाती है –

पहला :- जल्दी न्याय पाना और

दूसरा :- न्याय न पाना।

चूँकि प्रत्येक न्यायिक व्यवस्था (Judicial System) का अन्तिम साध्य शीघ्र न्याय दिलाना होता है किन्तु भारतीय न्याय व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो यहाँ प्रमुख रूप से “शीघ्र न्याय दिलाने की संकल्पना” का ही अभाव दिखता है, तो ऐसे परिवेश में हमारे समक्ष यह प्रश्न उठता है कि क्या – भारतीय न्यायव्यवस्था के इस अव्यवस्थित दर्शन में हमें कभी जल्दी न्याय मिल सकता है ?

वस्तुतः : इस प्रश्न के समाधान के लिये यह आवश्यक है कि हम जल्दी न्याय न मिल सकने वाले कारणों का विश्लेषण करें और साथ ही इस बात की खोज करें कि वह कौन-कौन से निकाय है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके लिये उत्तरदायी है। जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना है कि किसी भी कार्य के घटित होने में कई कारणों की संयुक्त भूमिका होती है, इसलिए भारतीय न्याय व्यवस्था में निहित खामी के पीछे भी कई निकायों / अंगों की संयुक्त भूमिका है। जैसे – वादी व प्रतिवादी की वास्तविक आर्थिक – सामाजिक हैसियत, पुलिस व प्रशासन की भूमिका, राजनैतिक हस्तक्षेप और न्यायालय की स्वयं की भूमिका। जहाँ इस प्रक्रिया में न्यायालय की भूमिका प्रत्यक्ष होती है और वहीं शेष अन्य कारकों की भूमिका अप्रत्यक्ष है। हम प्रायः देखते हैं कि यदि वादी आर्थिक सामाजिक व राजनैतिक रूप से कमजोर हैं और प्रतिवादी इन सभी दृष्टियों से सबल है तो वादी को न्याय मिलने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। आदर्श व्याख्यान में हम चाहे जो कुछ भी कहें, किन्तु आज की हकीकत यही है।

ध्यातव्य है कि व्यक्ति की हैसियत और राजनैतिक हस्तक्षेप का स्पष्ट नमूना हम हवाला काण्ड, लक्खूभाई पाठक धोखाधड़ी मामला, सुखराम मामला तथा सांसदों के खरीद – फरोक्त के मामले में संजीदगी से देख सकते हैं। जहाँ इन सभी प्रकरणों में प्रथमदृष्टया आपराधिक मामला बनता था (न्यायालय के शब्दों में) वहीं अन्तिमदृष्टया (निष्कर्ष रूप में) अपराध शून्यता की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। (न्यायालय के शब्दों में – अभियोग के पक्ष में पर्याप्त सबूत नहीं पाये गये)। क्या यह न्यायायिक प्रक्रिया में व्यक्ति की सामर्थ्य और राजनैतिक हस्तक्षेप को नहीं दर्शाता है ? यही नहीं, कुछ स्थितियों में सामर्थ्यवान लोग कोई न कोई तकनीक अपनाकर पूरी न्यायायिक प्रक्रिया को विलम्बित कर देते हैं। इसीप्रकार जल्दी न्याय न मिलने में सरकारी एजेन्सियों, पुलिस व प्रशासन की भूमिका भी अप्रत्यक्षतः महत्वपूर्ण हो जाती है। वस्तुतः समकालीन भारतीय परिवेश में जिस तरह नौकरशाही का राजनितीकरण व सम्प्रदायीकरण हुआ है, उससे न्यायायिक प्रक्रिया का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। यदि बोहरा समिति के शब्दों में कहें तो – “राजनीतिज्ञ, नौकरशाह व अपराधियों का गठजोड़ इस अव्यवस्था के लिये जिम्मेदार है।”

किन्तु इन अप्रत्यक्षकारकों (व्यक्ति की हैसियत, पुलिस प्रशासन की भूमिका व राजनैतिक हस्तक्षेप) की भूमिका होते हुये भी, जल्दी न्याय न मिलने के लिये न्यायालयी अक्षमता ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है। यानि न्याय में विलम्ब के लिये प्रत्यक्ष कारक

न्यायालय की सीमित क्षमता ही जिम्मेदार है। यदि पाश्चात्य देशों पर नजर डाले तो यह बात उभरकर सामने आती है कि पाश्चात्य देशों में जनसंख्या के अनुपात में न्यायाधीशों की संख्या भारत की तुलना में कई गुना अधिक है। उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त स्वास्थ्य सेवाओं में वृद्धि/मृत्युदर में कमी के फलस्वरूप जहाँ जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुयी, वहीं उस अनुपात में न्यायालयों/न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि नहीं की गयी। यही नहीं, वर्तमान में हजारों की संख्या में न्यायाधीशों के पद रिक्त पड़े हुये हैं जो इस अव्यवस्था के तीखेपन को और उजागर कर देते हैं। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि न्यायालय व न्यायाधीशों की संख्या में भारी कमी और न्यायायिक फैसलों का समय – आबद्धकर न होना ही न्याय में विलम्ब का प्रमुख कारण है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कारणों की मीमांसा करने के पीछे हमारा मूल उद्देश्य यह है कि इससे समस्या का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। साथ ही एक तरफ इन कारणों को दूर करके और दूसरी तरफ कुछ रचनात्मक उपायों को अंगीकार कर, हम समस्या का समाधान कर सकते हैं। जहाँ तक अप्रत्यक्ष कारणों को दूर करने का सवाल है तो निश्चय ही यह एक दुष्कर कार्य है और साथ ही इसका क्षेत्र विस्तार भी व्यापक है। किन्तु दुष्कर होते हुये भी यह कार्य असम्भव नहीं है। वस्तुतः इसके लिये जरूरत है – थोड़े संकल्प शक्ति की, राजनैतिक दृढ़ता की, सामाजिक – शैक्षणिक जागरूकता की और नौकरशाही के प्रशिक्षण व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की। भले ही सम्प्रति हम इन कारणों को शत – प्रतिशत दूर न कर सकें किन्तु कुछ उपायों को अपनाकर इससे काफी हद तक निजात पाया जा सकता है। जैसे – पुलिस व प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन करके उनके अन्दर ऐसे भाव भर दिये जाय जिससे वह राजनैतिक दबाव व धन बल के आगे झुक न सकें। साथ ही यह प्रशिक्षण समयानुकूल व नैतिक मूल्यों से युक्त होना चाहिये जिससे इनके अन्दर नौकरशाही का भाव न रहकर मानवीय भाव/सेवाभाव उपस्थित हो सकें। इसीप्रकार आम जनता को सामाजिक राजनैतिक व शैक्षणिक रूप से जागरूक करना भी समस्या समाधान की दिशा में एक कदम होगा। जैसा कि समाज दार्शनिक कार्लमैनहीम ने अपनी पुस्तक “Man and Society” में लिखा है कि किसी भी प्रकार के समष्टिगत बदलाव के लिये यह आवश्यक है कि पहले यह बदलाव व्यक्तिगत स्तर पर हो। इसप्रकार शिक्षित व जागरूक आम जनता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राजनैतिक सत्ता स्वच्छ छवि वाले व्यक्ति को सौंपे। इन विवेचनाओं से स्पष्ट ध्वनिता होता है कि यदि हम उपर्युक्त उपायों को थोड़ा भी अमल में लायें और राजनीतिक/न्यायायिक/सार्वजनिक जीवन में स्वच्छ छवि वाले लोगों को बढ़ावा दे तो निश्चय ही इन सुधारों के न्यायिक व्यवस्था पर काफी सकारात्मक प्रभाव परिलक्षित होंगे।

जैसा कि हम पूर्व में उद्धृत कर चुके हैं कि जल्द न्याय न मिलने का प्रमुख कारण न्यायालयों/न्यायाधीशों की अपर्याप्तता व न्यायिक प्रक्रिया में निहित कुछ विसंगति है। वस्तुतः यही मूल एवं प्रत्यक्ष कारण है जिसमें सुधार कर हम जल्द न्याय पा सकते हैं। किन्तु सच तो यह है कि समकालीन भारतीय परिवेश में न्याय प्रक्रिया में सुधार के लिये सम्पूर्ण न्यायायिक व्यवस्था (Judicial System) में आमूल – चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। उल्लेखनीय है कि जहाँ अप्रत्यक्ष कारकों को दूर करना दुष्कर कार्य है वहीं प्रत्यक्ष कारकों को दूर करना दुष्कर तो नहीं, किन्तु सरकार के लिये बजटीय भार अवश्य है। लेकिन ध्यान रहे कि कुछ बजटीय भार भले ही बढ़ जाय, किन्तु इससे समाज व राष्ट्र का अभूतपूर्व भला होगा, क्योंकि आज किसी राष्ट्र के न्यायायिक व्यवस्था को देखकर हम उस राष्ट्र के विकास व सभ्य – समाज के स्तर को आसानी

से जान सकते हैं। इसप्रकार भारतीय न्याय व्यवस्था के अव्यवस्थित दर्शन में सुधार/जल्द न्याय पाने के लिये पूरी न्यायाधिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है और यह परिवर्तन अधोलिखित बिन्दुओं पर होना आवश्यक है :-

- 1) अधिनस्थ न्यायालयों के लिये राष्ट्रीय स्तर पर अखिल भारतीय न्यायिक परीक्षा का आयोजन किया जायें और इस परीक्षा में बैठने के लिये कानून में स्नातक न्यूनतम योग्यता होनी चाहियें। ज्ञातव्य है कि किसी भी प्रकार का अनुभव रखने से प्रतिभाशाली छात्र, अन्य क्षेत्रों को कैरियर विकल्प के रूप में चुन लेते हैं और परिणाम स्वरूप प्रायः घिसे – पिटे छात्र ही इस क्षेत्र के लिये शेष रह जाते हैं।
- 2) चयन के पश्चात् इन न्यायाधीशों को कानून का एक वर्षीय प्रायोगिक (Practical) प्रशिक्षण दिया जाय। इस दौरान देश के महान विधि वेत्ताओं के साथ इनकी कानूनी बहस करायी जाय।
- 3) चयन के समय न्यायाधीशों से उनकी सम्पत्ति का विवरण लिया जाना चाहियें और तदुपरान्त प्रत्येक 10 वर्ष की सेवा के बाद इस तरह के विवरण की अपेक्षा की जानी चाहियें।
- 4) इन न्यायाधीशों के लिये पर्याप्त आकर्षक वेतनमान निर्धारित किया जाय और साथ ही ऐसे उपाय किये जाय जिससे वे राजनैतिक हस्तक्षेप से मुक्त रह सकें।
- 5) प्रत्येक जिले में न्यायाधीशों की संख्या में भारी वृद्धि किया जाय और यह वृद्धि कितनी हो इसके लिये एक आयोग का गठन किया जाय।
- 6) उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालयों में भी समय समय पर पर्याप्त मात्रा में सीटों की संख्या बढ़ाई जाय जिससे न्यायिक व्यवस्था समयानुकूल हो सकें।
- 7) प्रायः देखा जाता है कि अधिनस्थ न्यायालयों और उच्च न्यायालयों के फैसलों के बीच काफी अन्तर दिखता है। यहाँ तक कि प्रायः विपरीत भी देखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति के लिये सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की एक न्यायिक कमेटी गठित की जाय, जो अप्रत्याशित फैसला देने वाले न्यायाधीश से यदि आवश्यक हो तो, तार्किक जवाब की माँग कर सकें। इससे न्यायिक फैसलों में एकरूपता बनेगी और कदाचार पर कुछ अंकुश लगेगा।
- 8) अलग-अलग प्रकार के मुकदमों में न्यायिक फैसलों को समय आबद्धकर कर दिया जाय। इसीप्रकार प्रत्येक न्यायाधीश को मुकदमों निपटाने का न्यूनतम लक्ष्य दिया जाना चाहियें। साथ ही न्यायाधीश की स्वायत्ता पर किसी प्रकार की अनपेक्षित आँच न आये ऐसा सुनिश्चित होना चाहियें।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त विवेचनाओं से हमें यह स्पष्ट अवगति हो रही है कि उपर्युक्त सभी कार्यक्रमों का क्रियान्वयन कर दिया जाय तो वह दिन दूर नहीं जब भारतीय न्याय व्यवस्था में जल्द न्याय मिल सकेगा। पश्चिम के अनेक देशों में न्याय – प्रक्रिया बड़ी तीव्र व पारदर्शी है और हम आशान्वित हैं कि भारत में न्याय व्यवस्था का अव्यवस्थित दर्शन एक व्यवस्थित दर्शन में रूपान्तरित हो जायेगा। किसी भी सभ्य समाज में वास्तविक अर्थों में न्याय पाना एक ऐसा सत्य है, जिससे सामाजिक शिव (कल्याण) में वृद्धि होती है, और इसप्रकार सम्पूर्ण मानवता के सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो सकेगी।